महान चित्रकार

ईशा सरदेसाई द्वारा पुनर्लिखित

चित्रकार अपने कैन्वस के सामने खड़ी थी, द्वारका का शानदार शहर उसके सामने आकार ले रहा था। उसकी तूलिका कैन्वस पर रंग बिखेर रही थी, उसके हाथ की हर गतिविधि नृत्य के समान थी, उसकी तूलिका की हर हरकत अपने आप में एक कविता थी। उसकी आँखों से देखने पर शहर के घर और मन्दिर अचानक ही, वास्तविक जीवन की तुलना में अधिक भव्य लगने लगे थे, उनका अनुभव और भी ठोस रूप से किया जा सकता था। उनकी दीवारों से जुड़ी कहानियाँ अधिक स्पष्ट हो गई थीं। इस शहर के लोग और भी सुन्दर लग रहे थे, और न जाने किस कारण से अधिक सजीव भी; उनके कपड़ों की हर सिलवट, उनके चहरे की हर लकीर, एक कहानी सुना रही थी — जीत की, दुःख की, प्रेम व हार की और उस जीवन की जो उन्होंने कभी जिया था।

चित्रकार का नाम था, चित्रलेखा और वह पूरे द्वारका में प्रसिद्ध थी। प्रतीत होता था कि ऐसा कुछ है ही नहीं, जिसका चित्र वह न बना सके।

चित्रलेखा अपनी प्रतिभा के बारे में अच्छी तरह जानती थी। उसे पता था कि उसकी तकनीक बेजोड़ है, कि उसकी रचनात्मकता अद्वितीय है। वह जानती थी कि वह महान हैं — परन्तु वह फिर भी और महान बनने की अभिलाषा रखती थी।

शहर का चित्र पूरा करते समय, जब वह सूरज की किरणों से आच्छादित अपने आकाश में अन्तिम नीले व सुनहरे रंग भर रही थी, तो वह सोचने लगी कि उसे इसके बाद क्या बनाना चाहिए। वह किस चीज़ को लकीरों और रंगों में उतारे, जो अद्भुत हो, आश्चर्यचकित कर देने वाला हो, जो उसके लिए एक चुनौती हो और उसकी योग्यता को साबित करे? वह द्वारका के हर कोने को चित्र में उतार चुकी थी। वह पहले-ही राजघराने के सभी लोगों की व समस्त श्रेष्ठजनों की तस्वीरें बना चुकी थी।

या — क्या उसने?

इस बारे में अधिक चिन्तन करने पर, चित्रलेखा को एकसास हुआ : कोई *था* जिसकी तस्वीर बनाना अभी बाकी था। कोई *था* जिनकी मनमोहकता और भव्यता को अभी तक कैन्वस पर कैद नहीं किया

गया था। और वे थे, स्वयं द्वारका और उससे परे सभी लोकों के अधिपति। वे थे, स्वयं भगवान : भगवान श्रीकृष्ण।

"हाँ, बस," चित्रलेखा ने सोचा। "यदि मैं भगवान श्रीकृष्ण की तस्वीर बना सकी तो फिर कोई प्रश्न शेष नहीं रहेगा। मैं इस स्थान की सबसे निपुण चित्रकार बन जाऊँगी।"

इसके साथ ही चित्रलेखा ने अपना कैन्वस उठाया और वह सीधे राजमहल जा पहुँची। वहाँ जाकर उसने भगवान से मिलने का अनुरोध किया। अन्ततः , राजमहल के पहरेदारों ने उसे अन्दर आने दिया और वे उसे एक चौड़े, हवादार गलियारे से होते हुए एक कक्ष में ले गए। भगवान कृष्ण अन्दर एक खिड़की के पास खड़े थे। सूर्य की किरणें उनपर और उनके आस-पास पड़ रही थीं, उनके मुकुट के मोरपंख इन्द्रधनुषीय रंगों से जगमगा रहे थे। उनके सब ओर प्रकाशपुंज था।

चित्रलेखा के आने का समाचार मिलने पर भगवान मुड़े।

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "महान चित्रकार, चित्रलेखा। स्वागत। मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?"

"प्रभु," चित्रलेखा ने उत्तर दिया। "मैं आपसे यह पूछने आई हूँ कि क्या आप मुझे अपना चित्र बनाने की अनुमति प्रदान करेंगे।"

शायद यह किरणों का खेल था, परन्तु भगवान कृष्ण के चहरे के भाव में वह क्या था जो चित्रलेखा ठीक से समझ नहीं पाई — उनकी आँखों की चमक?

अगले ही पल वह चमक ओझल हो गई। और भगवान कृष्ण ने जो कहा, वह था, "हाँ, बिल्कुल। तुम कल से शुरू कर सकती हो।"

अपने सद्भाग्य से रोमांचित, चित्रलेखा तैयारी करने के लिए अपने घर की ओर भागी। वह अगली सुबह वापस आई, उन सभी चीज़ों के साथ जो उसे चाहिए थीं — अपना कैन्वस, अपना ईज़ल, अपनी सबसे अच्छी तूलिकाएँ व रंग। कक्ष में प्रवेश करते ही उसने देखा कि श्रीकृष्ण एक आलंकृत दिखने वाले सिंहासन पर बैठे हुए थे और उनका हाथ, उसके हत्थे पर रखा हुआ था।

"यह कैसा है?" भगवान कृष्ण ने चित्रलेखा से पूछा। "यह मुद्रा, तुम्हारे चित्र के लिए कैसी रहेगी?"

"बहुत अच्छी, प्रभु। धन्यवाद। यह बहुत उत्तम है।" चित्रलेखा ने अपना ईज़ल लगाया और कार्य करना शुरू कर दिया।

उसकी दृष्टि कभी भगवान कृष्ण पर होती तो कभी कैन्वस पर। उसके हाथ में जो तूलिका थी वह, दिखाई देने वाले हर नए रूप-आकार के साथ, हर नई परछाईं और उतार-चढ़ाव के साथ, कठपुतली की तरह नाच रही थी। वह कई घन्टों तक ऐसे-ही चित्र बनाती रही।

आख़िरकार वह अपने कैन्वस से पीछे हटी। "प्रभु," उसने अपना माथा पोछते हुए कहा। "बस पूरी होने वाला है। यदि आपकी सहमति हो तो मैं इसे पूरा करने कल वापस आना चाहूँगी।"

"हाँ, बिल्कुल," भगवान कृष्ण ने कहा। "अवश्य — तुम कल वापस आ जाना। "

तो अगले दिन, चित्रलेखा वापस आई और उसने पुनः चित्र बनाना शुरू किया। वह रंगों को हूबहू उतारने में और भगवान के मोरपंख की कलगी का सटीक चित्रण करने में इतनी व्यस्त थी, कि उसे यह जानने में कई मिनट लग गए कि कुछ तो अलग है।

सिंहासन — *सिंहासन !* जिस पर भगवान कृष्ण कल बैठे थे! वह, वहाँ नहीं था। बल्कि अब वे खड़े थे। वे सीधे चित्रलेखा की ओर देख रहे थे, उनके चहरे पर एक मुस्कान थी।

"प्रभु!" चित्रलेखा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा। "मुझे लगता है कि आपने अपनी मुद्रा बदल ली है।"

"हाँ," भगवान कृष्ण ने सरलता से कहा। "अच्छा रहेगा कि तुम मेरी ऐसी तस्वीर बनाओ जिसमें मैं खड़ा हूँ।"

ठीक है, चित्रलेखा ने सोचा, *अचानक यह क्या हुआ।*

"परन्तु, मेरे प्रभु," उसने कहा, "इसका अर्थ हुआ कि मुझे फिर-से शुरू करना होगा।"

"ओह, अच्छा," भगवान कृष्ण ने कहा, थोड़ी हैरानी से। "हाँ, क्यों, मुझे लगता है कि तुम्हें ऐसा करना पड़ेगा।"

"मैं — मैं — हाँ। ठीक है। मैं ऐसा करूँगी।" चित्रलेखा अपने असमन्जस को छुपाने का असफल प्रयास करते हुए, दूसरे कैन्वस को ढूढ़ने के लिए हड़बड़ाई।

उसने एक गहरी साँस अन्दर ली और एक बार फिर चित्र बनाना शुरू किया। कुछ मिनट बाद, वह उस स्थान पर वापस आ गई जो उसे जाना-पहचाना लग रहा था। रंग एक-दूसरे में घुल-मिल रहे थे, आकार रूप लेने लगे थे, भगवान के भाव हूबहू उभरने लगे थे कि तभी —

रुकिए। चित्रलेखा कैन्वस से पीछे हटी। *क्या वह — ?*

धीरे-से, और थोड़ा घबराते हुए, उसने कैन्वस के एक किनारे से झाँका। निस्सन्देह, भगवान कृष्ण के चहरे का भाव बदल गया था। अब वे मुस्करा नहीं रहे थे; अब उनके चहरे पर दृढ़ता और साहस के भाव थे।

"मेरे — मेरे भगवन्," चित्रलेखा ने धीमे स्वर में कहा।

"हाँ, चित्रलेखा?"

"आपके चहरे का भाव . . . "

"अरे, हाँ," श्रीकृष्ण ने कहा। "मैंने बदल दिया है। तुम्हें इस भाव के साथ मेरा चित्र बनाना चाहिए।"

इस भाव के साथ उनका चित्र बनाऊँ, चित्रलेखा ने खुद से कहा। उसने बड़े साहस के साथ खुद को सम्भालने की कोशिश की। *कोई बात नहीं। मैं यह कर सकती हूँ।* उसने भगवान कृष्ण की ओर देखकर सर हिलाया और अपनी तूलिका उठाई।

पलभर में उसने अपनी तूलिका फिर-से नीचे रख दी।

"प्रभु!" चित्रलेखा ने कहा।

"चित्रलेखा?"

"*वे* लोग क्या कर रहे हैं?" उसने दो हृष्ट-पुष्ट सेवकों की ओर संकेत किया जो अपने हाथों से सुनहरे रंग का एक भव्य सिंहासन लिए तेज़ी से भगवान कृष्ण की ओर बढ़ रहे थे।

"तुम्हारा तात्पर्य है, मेरे सेवक?" भगवान कृष्ण ने पूछा। "वे मेरे लिए वह सिंहासन ला रहे हैं।"

"मेरे प्रभु, क्या आप अब उस सिंहासन पर बैठेंगे?"

"हाँ, बिल्कुल। और तुम उस पर बैठे हुए मेरा चित्र बनाओगी।"

चित्रलेखा की आँखें फटी-की-फटी रह गईं। वह कुछ नहीं कह पाई। वह अपने रंग मिलाने के मेज़ की ओर मुड़ी, उसने फिर-से रंग मिलाए, और — वह क्या कर सकती थी? — उसने दोबारा शुरू किया।

कई दिनों, हफ़्तों और महीनों तक ऐसे ही चलता रहा। चित्रलेखा अपनी पेंन्टिंग के बीच में होती कि तभी पता चलता कि फिर किसी सुधार की आवश्यकता है — भगवान का भाव या उनकी मुद्रा बदल गई है या उन्हें किसी नए स्थान पर जाना है या फिर कोई नई वस्तु शामिल करनी है। चित्रलेखा ने हर उस तकनीक का उपयोग किया जो उसे आती थी, उसने चित्रकारी की हर उस शैली का उपयोग किया जो उसने आज तक सीखी थी। हाय, कुछ भी काम नहीं आया। भगवान हिल जाते और उसकी तूलिका उनकी गतिविधि को भाँप नहीं पाती।

अन्ततः, एक दिन, जब उसके सब्र का बाँध टूटने ही वाला था तब वह नारद मुनि के पास परामर्श के लिए गई। नारद मुनि भगवान के परम भक्त थे।

“हे मुनिवर, मैं क्या करूँ?” वह अपनी विपदा भरी कहानी सुनाने के बाद फूट-फूट कर रोने लगी।

नारद मुनि ने सौम्यताभरी दृष्टि से उसे देखा। “मेरी प्रिय चित्रलेखा,” उन्होंने मृदुलतापूर्वक कहा। “यदि तुम सचमुच भगवान की तस्वीर बनाना चाहती हो, तो तुम्हारा चित्रपट और साफ़ होना चाहिए।”

***

और साफ़ चित्रपट? मुनिवर के वचन चित्रलेखा के कानों में गूँजने लगे। वे शब्द उसके मन में चल रहे थे और वह आगे की पेंन्टिंग बनाने के लिए राजमहल की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगी। *और साफ़ चित्रपट?*

उसका ईज़ल वहीं रखा था, उसी स्थान पर जहाँ वह हमेशा रखा रहता था, और उसके रंग व तूलिकाएँ सब सुव्यवस्थित तरीक़े से रखे हुए थे। इस बार भगवान खड़े थे।

उसने अपना कैन्वस तैयार किया।

“क्या तुम शुरू करने के लिए तैयार हो?” भगवान कृष्ण ने उससे पूछा।

चित्रलेखा ठहरी। "ऐसा लगता तो है, प्रभु," उसने कहा। "हाँ, मुझे लगता है कि यह एक प्रकार का आरम्भ ही है।"

"तुम्हारा क्या तात्पर्य है, चित्रलेखा?" परन्तु भगवान की आँखें इस भाव से चमक रही थीं कि उन्हें सब कुछ ज्ञात है।

"भगवन्, मुझे लगता है कि अन्ततः यह पूरी हो गई है। आपकी तस्वीर तैयार है।"

"क्या यह अभी तुम्हारे पास है?" भगवान श्रीकृष्ण ने कहा। "मुझे दिखाओ।"

चित्रलेखा ने कैन्वस को भगवान की ओर घुमाया। बस — वह असल में एक कैन्वस नहीं था, या कम-से-कम वैसा नहीं जिसका उपयोग करने की उसे इतनी आदत हो चुकी थी। यह दरअसल एक प्रतिबिम्बित करने वाला साफ़, निर्मल काँच था : एक दर्पण।

भगवान ने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा और फिर वे चित्रलेखा की ओर मुड़े।

यह वह क्षण था — जब चित्रलेखा ने भगवान की आँखों में देखा, जब और कुछ नहीं बस एक अदृश्य स्वर्णिम डोर भगवान की एकटक दृष्टि को उसकी दृष्टि से जोड़ रही थी, जब उसे अपने होने का भाव करुणा की उन अथाह गहराइयों में खोता हुआ महसूस हो रहा था — और *उसी* क्षण, रंग फूटे।

और वे फूटे, एक चमक के साथ, सौन्दर्य के साथ, एक नएपन और ख़ुशी के साथ, जो उसकी कल्पना से परे थे। पहले, वह रंगों को देख पाती थी, परन्तु अब — *अब* — वह उन रंगों को देख रही थी जो अब तक अनदेखे थे। पहले, वह उनके कणों को महसूस कर पाती थी, पर अब रेशम और मख़मली स्पर्श उसकी सत्ता से अविभाज्य थे। वह शून्य के उस संगीत को सुन रही थी जिसने अभी ध्वनि का रूप नहीं लिया था; और उसकी आत्मा की कविता, उसकी धड़कन के समान स्पष्ट उस कविता की लय, उसके भीतर से एक तीव्रता के साथ उमड़ी — एक आवेगपूर्ण मनोभाव जिसे रोका नहीं जा सकता।

और मन-ही-मन चित्रलेखा नृत्य कर रही थी, उसके सीने से रंग प्रसरित हो रहे थे और प्रकाश, झरने की भाँति उसके ऊपर गिर रहा था। क्या वह इस चित्र की रचना कर रही थी, या वह स्वयं एक चित्र थी? उसे शायद ही कुछ पता था। उसे शायद ही कोई परवाह थी।

चित्रलेखा अपने हाथों को अपने चहरे पर लाई। वहाँ नमी महसूस कर उसे आश्चर्य हुआ। जब उसने आँसुओं से भरी अपनी पलकें झपकीं, तो भगवान का चहरा एक बार फिर साफ़ दिखाई देने लगा, सूर्य की तरह तेजोमय और कृपापूर्ण। भगवान ने अपना सिर हिलाया।

और महान चित्रकार, चित्रलेखा ने अपनी तूलिका नीचे रखी।

© २०१९ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।